IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429
Volume 2, Issue 1, May 2023
Impact Factor: 7.301

vjfoUn dh /kkfeZdrk dk lkekftd iHkko

डॉ. रत्नेश पांडे

विभागाध्यक्ष एवम् पर्यवेक्षक

डॉ लाल जीत पचौरी

शोध निर्देशक

योगविभाग, रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, रायसेन म.प्र

नवीन

शोधार्थी, योगविभाग, रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, रायसेन म.प्र

vjfoUn dh /kkfeZdrk dk lkekftd iHkko %&

ऋर्षियों के संदेश को यद्यपि अभी मनुष्य नहीं समझ सका है किंतु इसमें निहित इस संदेश को उसने स्वीकार कर लिया। वस्तुतः ऋषि यहाँ तत्व द्रष्टा हैं उसे ही श्री अरविन्द ने धार्मिक मनुष्य कहा है जो मानव–जीवन को उसकी पूर्णता की और ले जाने में सक्षम है। धार्मिक मनुष्य जो मानव जीवन को उसकी पूर्णता की ओर ले जा सकता है। प्राचीन भारतीय विचार में ऋषि नाम दिया गया है। ऋषि वह है जिसने मानव जीवन को पूर्ण रूप से उपयोग किया है तथा अति बौद्धिक अति मानसिक और धार्मिक सत्य का श्रुति ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

भारतीय संस्कृति के उद्धारक अरविन्द का उद्देश्य किसी धर्म, आस्था या संघ को स्थापित करना नहीं अपितु आंतरिक उत्थान करना था, जिससे प्रत्येक मनुष्य सभी के अंदर के एक रूप को समझ सके और महान ज्ञान को प्राप्त कर सकें, ताकि मानव में ईश्वरीय गुणों की उत्पति हो। ऋषि अरविन्द महान हिन्दू संत, क्रांतिकारी, कवि, दार्शनिक, लेखक योगी और धार्मिक गुरू थे।

अरविन्द कहते हैं कि मनुष्य के प्रबुद्ध विचारों में उसकी सबसे पहली तत्कालीन, जो उसकी चरम और अनिवार्य तल्लीनता भी मालूम होती है, क्योंकि वह संदेहवाद की लंबी से लंबी अवधियों के बाद, हर निष्कासन के बाद भी बनी रहती हैं, वही, जहां तक उसके विचार की उड़ान है। उसकी उच्चतम तल्लीनता भी मालूम होती है। वह अपने आपको परम देव के पूर्वाभास में पूर्णता के लिए आवेश में शुद्ध सत्य और अमिश्रित आनंद की खोज में गुप्त अमरता के भाव में प्रकट करती है। मानव ज्ञान की प्राचीन उषाएं इस सतत् कामना के बारे में अपनी साक्षी छोड़ गई हैं। आज हम ऐसी मानव जाति को देखते हैं जो प्रकृति के बाह्मा रूप के विजयी विश्लेषण से अघा तो गई है पर संतुष्ट नहीं हैं। वह अपनी आदिम ललकों की और लौटने की तैयारी कर रही है। प्रज्ञा का प्रारम्भिक रूप ही अंतिम रूप में होने की प्रतिज्ञा करता है।[1] भगवान, प्रकाश, स्वाधीनता और अमरता। मनुष्य जाति के ये निरन्तर आदर्श उसकी सामान्य अनुभूति का खण्डन करते हैं और साथ ही साथ उन उच्चतर और गहरी अनुभूतियो का समर्थन करते हैं जो मानव जाति के लिये असामान्य हैं और जो अपने पूरे संगठित रूप में किसी क्रांतिकारी समूहगत प्रयास या विकासशील व्यापक प्रगति द्वारा ही पाये जाते हैं। पाशविक और अंहकार युक्त चेतना में दिव्यसत्ता को जानना, उसे पाना और वहीं हो जाना, अपनी झुट–पुटी, अस्पष्ट, भौतिक, मानसिकता को पूर्ण अतिमानसिक प्रकाश में बदलतना जहाँ केवल शारीरिक पीड़ा और भावनामय कष्ट से घिरे अस्थायी संतोष का दबाव है वहां शांति और स्वयंभू आनंद का निर्माण करना

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 2, Issue 1, May 2023 Impact Factor: 7.301

जो संसार अपने–अपने यांत्रिक आवश्यकताओं के झुण्ड के रूप में प्रकट करता है। वहां अनन्त स्वीधीनत को प्रतिष्ठित करना, मृत्यु और सतत् परिवर्तन के अधीनस्थ शरीर में अमर जीवन प्राप्त करना–ये हैं वे चीजें जो भौतिक में भगवान की अभिव्यक्ति और प्रकृति के पार्थिक क्रम–विकास के लक्ष्य के रूप में हमार आगे प्रस्तुत की जा रही है। चेतना के वर्तमान गठन को अपनी संभावनाओं की सीमा मानने वाली सामान्य भौतिक बुद्धि के लिये अभी तक अनुपलब्ध आदर्शो का उपलब्ध तथ्यों द्वारा प्रत्यक्ष खंण्डन ही उनकी तर्कसंगति के विरूद्ध अंतिम युक्ति है। लेकिन अगर हम संसार की क्रियाओं का जरा अधिक विवेकशील अवलोकन करें तो वह प्रत्यक्ष निरोध प्रकृति के गहनतम उपाय का एक भाग और उसकी संपूर्ण स्वीकृति की मुहर मालूम होता है।

कारण जीवन की सभी समस्याएं तत्वतः सामंजस्य की समस्याएं है। वे किसी अनसुलझी विसंगति के प्रत्यक्ष दर्शन से और अप्राप्त मेल और एकता के सहज बोध से उठती हैं। मनुष्य के व्यावहारिक और अधिक पाशविक भाग के लिये अनसुलझी विसंगतियों के साथ संतुष्ट बने रहना संभव हैं। परन्तु उसके पूरी तरह जाग्रत मन के लिये असंभव है। सामान्यतः उसके व्यवहारिक भाग भी इस व्यापक आवश्यकता से या तो समस्या को बाहर बंद रखकर काम चलाऊ प्रकाश हीन समझौता स्वीकार करके बचते हैं। क्योंकि अनिवार्य रूप से समस्त प्रकृति सामंजस्य की खोज में है, जैसे मन अपने प्रत्यक्ष दर्शनों की व्यवस्था में, उसी तरह प्राण और भौतिक भी अपने–अपने क्षेत्र में सामंजस्य की खोज करते हैं।

अरविन्द कहता है कि हम भौतिक पदार्थ में प्राण के विकास और भौतिक पदार्थ में मन के विकास की बात करते हैं। लेकिन विकास एक ऐसा शब्द है जो केवल एक तथ्य या घटना की बात कह देता हैं, उसे समझाता नहीं। लेकिन जब तक कि हम वेदांत के इस समाधान को न स्वीकार कर लें कि प्राण पहले से ही 'भौतिक' में अंतर्लीन है और मन 'प्राण' में क्योंकि तत्वतः भौतिक पदार्थ प्राण का ही एक छिपा हुआ रूप है और प्राण चेतना का छिपा हुआ रूप है–तब तक इसका कोई कारण नहीं दिखलाई देता कि भौतिक तत्व में से प्राण और जीवित रूप में से मन विकसित हो और तब इस क्रम में एक कदम रखने पर यह मानने में कोई आपति नहीं दिखलाई देती कि भौतिक तत्व में से प्राण और जीवित रूप में से मन विकसित हो और तब इस क्रम में एक कदम रखने पर यह मानने में कोई आपति नहीं दिखलाई देती कि स्वयं मानसिक चेतना मन से परे के उच्चतर स्तरों का एक रूप या उसका एक पर्दा हो। उस अवस्था में भगवान, प्रकाश, आनंद, स्वाधीनता, अमरता के प्रति मनुष्य का अपराजेय मनोवेग अपने–आपको उचित रूप से उस श्रृंखला में रखता है जो केवल प्रकृति का अनिवार्य आवेग हैं।

जिसके द्वारा प्रकृति मन के परे विकसित होने की कोशिश कर रही है और यह उतना ही स्वाभाविक, सच्चा और उचित प्रतीत होता है जैसे भौतिक द्रव्य के अमुक रूपों में उसने 'प्राण' के लिये प्रेरणा रोपी थी।[3] या जैसे प्राण के अमुक रूपों में से उसने मन के लिये प्रेरणा रोपी थी। वहां की तरह यहां भी यह मनोवेग उसके विभिन्न पात्रों में न्यूनाधिक रूप में अस्पष्ट रहता है, वह हमेशा होने या बने रहने की इच्छा के उपर चढ़ते हुए क्रम में बना रहता है। वहां की तरह यहां भी, वह धीरे–धीरे विकसित होता और आवश्यक अंगों और क्षमताओं को विकसित करने के लिए बाधित है। जैसे–मन की ओर उठने वाली प्रेरणा धातु और वनस्पति में प्राण की अधिक संवेदशील प्रतिक्रियाओं से लेकर मनुष्य के अंदर उसके पूर्ण व्यवस्थापन तक रहती है उसी तरह मनुष्य के अपने अंदर वही आरोहणशील क्रम और कुछ नही तो उच्चतर और दिव्य जीवन की तैयारी करता है। कहते हैं पशु एक जीवित प्रयोगशाला है जिसमें प्रकृति ने मनुष्य को तैयार किया है। कहते हैं पशु एक जीवित प्रयोगशाला हैं जिसमें प्रकृति ने मनुष्य को तैयार किया हैं। हो सकता है कि स्वयं मनुष्य एक ऐसी जीती जागती विचारशील प्रयोगशाला हो जिसमें और जिसके सचेतन सहयोग से वह अतिमानव या द्वेष तैयार करना चाहती है। हम यह क्यों न कहें कि वह भगवान को अभिव्यक्त करना चाहती है।[4] क्योंकि अगर क्रम विकास प्रकृति के अंदर सोई हुई या अंतर्लीन होकर काम करती हुई चीज की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 2, Issue 1, May 2023 Impact Factor: 7.301

है तो यह भी प्रकट रूप में उस चीज की चरितार्थता है जो वह स्वयं गुप्त रूप से है। इसलिए हम उसे क्रम–विकास के अमुक स्तर पर रूक जाने का हुकुम नहीं दे सकते और न हमें यह अधिकार है कि उसके परे जाने के प्रयास या प्रकट किये हुए इरादे को धार्मिक लोगों के साथ मिलकर उसे विकृत या पांखडी कह सकें या फिर तर्क बुद्धिवालों की तरह उसे बीमारी या मतिभ्रम ठहरा दें। अगर यह सच है कि आत्मा भौतिक में अंतर्लीन है और दृश्य प्रकृति गुप्त भगवान है तो देवत्व की अपने में चरितार्थता और भगवान् की स्वयं अपने अंदर और बाहर अभिव्यक्ति धरती पर स्थित मनुष्यों के लिये उच्चतम और यथासम्भव अधिक से अधिक न्याय संगत लक्ष्य हैं।

अरविन्द घोष का धर्म वेदान्त के मूल आधार पर आधारित है। धरती पर दिव्य जीवन के और मर्त्य जीवन में अमरता के स्वीकरण का तब तक कोई आधार नहीं हो सकता जब तक कि हम न केवल शाश्वत आत्मा को इस शारीरिक भवन के निवासी, इस परिवर्तनशील चोले के धारण करने वाले के रूप में स्वीकार कर लें बल्कि भौतिक द्रव्य को भी जिससे यह बना है एक उपयुक्त और उत्कृष्ट द्रव्य न मान लें जिसमें से भगवान् हमेशा अपने परिणाम बुनते रहते हैं, अपने भवनों की अंतहीन श्रृंखला को बार–बार बनाने में लगे रहते हैं।[5]

लेकिन यह बात भी हमें शारीरिक जीवन के प्रति होने वाली विरक्ति से बचाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके लिये जरूरी है कि उपनिषदों की तरह हमें जीवन के इन दो चरम छोरों के बाहरी रूपों के पीछे रहने वाली उनकी तात्त्विक एकता का बोध हो और इसे पाकर हम प्राचीन ग्रंथो की भाषा में कहने लगें, ''अन्नं वै ब्रह्म''। जड़त्व भी ब्रह्म है और उस सशक्त रूपक को उसका पूरा–पूरा मूल्य दे सकें जिसमें भौतिक विश्व को दिव्य पुरूष का बाहरी शरीर कहा गया है। अगर हम जड़त्व और आत्मा के बीच के आरोहणकारी सोपान को प्राण, मन और अतिमन को जोड़ने वाली श्रेणियों को स्वीकार न करें तो ये दो चरम छोड़, जड़त्व और आत्मा इतने अधिक विभक्त प्रतीत होते हैं कि उनकी एकात्मता तर्कसंगत बुद्धि को विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। अन्यथा ऐसा लगेगा कि ये दोनों असंगत विरोधी हैं जो एक–दूसरे के साथ दुःखद परिणय–सूत्र में बंधे हुए हैं और उनका तलाक ही एकमात्र बुद्धिसंगत समाधान है।[6] उनमें एकात्मता स्थापित करना, इनमें से एक को दूसरे की भाषा में प्रस्तुत करना, विचार का कृत्रिम सृजन हो जाता है जो तथ्यों के तर्क का विरोधी है और यांत्रिक बुद्धिहीन पदार्थ या उर्जा को ही मानें, एक को भगवान् या आत्मा कहें और दूसरे को प्रकृति तो इसका अनिवार्य अंत यह होगा कि हम या तो भगवान को अस्वीकार करेगें या प्रकृति से मुंह मोड़ लेगें। तब विचार और जीवन दोनों के लिए चुनाव अत्यावश्यक हो जाता है। विचार एक को कल्पना की भ्रांतिया दूसरे को इंद्रियों की भ्रांति मान लेगा। जीवन अभौतिक के साथ जुड़ जाता है और वितृष्णा या आत्मविस्मृतिकारी आनंद के साथ अपने–आपसे भागता है या फिर स्वयं अपनी अमरता से इंकार करता है और भगवान् से मुंह मोड़कर पशु की ओर अभिमुख होता है। पुरूष और प्रकृति सांख्य की निष्क्रिय प्रकाशमय आत्मा और उनकी यांत्रिक रूप से क्रियाशील उर्जा में कोई भी चीज समान नहीं है, उनके तामसिकता के विरोधी तत्व में भी कोई समानता नहीं है उनके विरोधों के समाधान का एक ही तरीका है निष्क्रिय रूप से चालित क्रियाशीलता का समापन उस अपरिवर्तनशील विश्रांति में कर दिया जाये। जिसमें वह अपने प्रतिबिम्बों की निष्फल धारा व्यर्थ में डालती रही है। शंकर को निःशब्द, निष्क्रिय 'आत्मा' और उनकी बहुनाम रूपधारी ''माया'' भी समान रूप से विषम और असंगत सताएं है। उनके कठोर विरोधों का अंत तभी हो सकता है जब बहुरूपधारी भ्रांति शाश्वत नीरवता के एकमात्र सत्य में विलीन हो जायें।[7] जड़वादी का क्षेत्र ज्यादा आसान है। उसके लिये यह ज्यादा आसान है कि आत्मा को नकारकर एक अधिक आसानी से विश्वास दिलाने वाले सरल वक्तव्य, सच्चे अद्वैत, भौतिक तत्व या शक्ति के अद्वैत पर पहुंच जाये। लेकिन उसके लिये भी इस कठोर वक्तव्य पर हमेशा डटे रहना संभव नहीं है। आखिर वह भी एक ऐसे अज्ञेय को ला खड़ा करता है जो उतना ही निष्क्रिय और ज्ञात विश्व से उतना ही दूर होता है।

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 2, Issue 1, May 2023 Impact Factor: 7.301

जितना निश्चल पुरूष या नीरव आत्मा। इस भांति वह विचार की कठोर मांगों को एक अस्पष्ट सी रियायत देकर टाल देता है या जिज्ञासा की सीमाओं को आगे बढ़ने की स्वीकृति न देने का बहाना पा लेता है। इसके सिवा उससे कोई काम नहीं बनता।[8] इसलिए मानव मन इन निष्फल विरोधों से संतुष्ट नहीं रह सकता। उसे हमेशा एक संपूर्ण प्रस्थापना की खोज करनी चाहिये और यह उसे प्रकाशमय समाधान से ही मिल सकती है। उस समाधान तक पहुंचने के लिये उसे उन श्रेणियों को पार करना होगा जिन्हें हमारी आंतरिक चेतना हमारे ऊपर आरोपित करती है और चाहे प्राण और मन पर भौतिक तत्व की तरह ही विश्लेषण की वस्तुनिष्ट पद्वति के द्वारा या आत्मनिष्ठ समन्वय और उद्शासन द्वारा अभिव्यक्तिकारी बहुविधता की उर्जा को अस्वीकार किये बिना परम एकत्व की विश्रांति पर पहुंचना होगा। केवल इस प्रकार की पूर्ण और उदार प्रस्थापना में ही अस्तित्व के बहुविध और प्रत्यक्षतः विरोधी तथ्यों का सांमजस्य हो सकता है इसी तरह हमारे विचार और प्राण पर शासन करने वाली अनेक विध परस्पर विरोध शक्तियां उस केन्द्रीय सत्य को खोज सकती हैं जिसका प्रतीक बनना और नाना रूपों से परिपूर्ण करना ही उनका प्रयोजन हैं। तभी हमारे विचार सच्चे केन्द्र को पाकर, गोल–गोल चक्कर लगाना बंद करके, उपनिषद के ब्रह्म ही तरह काम कर सकता है, अपनी लीला और सारे संसार की दौड़ में स्थिर और ध्रुव रह सकता है, हमारा जीवन अपने लक्ष्य को जानकर शांत एवं स्थिर आनंद और प्रकाश के साथ तथा लयबद्ध तर्क मूलक उर्जा के साथ उसकी सेवा कर सकता है।[10]

आत्मा और जड़ पदार्थ दोनों ही एक अज्ञेय के प्रतिनिधि है किंतु उसके साथ उनके संबंधो में जो भिन्नता है उससे जड़वादी का नकार यद्यपि अधिक आग्रही है और तत्कालिक सफलता पाता है, जनसाधारण को अधिक आकर्षित करता है फिर भी वह अंततः संन्यासी के संकटमय मनमोहक नकार की अपेक्षा कम टिकाऊ और प्रभावकारी होता है। क्योंकि उसका उपचार उसी के अंदर होता है। उसका सबसे अधिक सबल तत्व है अज्ञेयवाद जो सारी अभिव्यक्ति के पीछे एक 'अज्ञेय' को मानते हुए अज्ञेय के क्षेत्र को बढ़ाता जाता है और अंत में जो कुछ भी अज्ञात है। वह सब उसमें समा जाता है। उसका आधार वाक्य यह होता है कि शारीरिक इंद्रियां ही 'ज्ञान' के लिये हमारा एकमात्र साधन है और तर्कबुद्धि अपनी अधिक से अधिक विस्तृत और अधिक से अधिक सशक्त उड़ानों में भी इन्द्रियों के प्रदेश से बाहर नहीं जा सकती। उसे हमेशा उन्हीं तथ्यों से व्यवहार करना चाहिये जिन्हे इन्द्रियां उसके सामने प्रस्तुत करें या जिनकी ओर इशारा करें। उन इशारों के मूल में भी बंधा रहना पड़ेगा। हम उनके परे नहीं जा सकते। हम इनसे ऐसा पुल नहीं बना सकते जिससे किसी ऐसे क्षेत्र में पहुंचा जा सके जहां अधिक सशक्त और कम सीमित क्षमताओं की क्रिया होती है और किसी और तरह के अन्वेषण की जरूरत हो।[11]

यह आधारवाक्य इतना मनमाना है कि यह अपने आप ही अपनी अपर्याप्तता का अपराध घोषित करता है। इसका समर्थन केवल तभी किया जा सकता है जब हम उसके विपरीत प्रमाणों और अनुभवों के विशाल क्षेत्र की उपेक्षा कर दें या किसी तरह जैसी तैसी व्याख्या करके उसे उड़ा दें, सभी मनुष्यों में विद्यमान उदान और उपयोगी क्षमताओं को, जो सचेतन या अस्पष्ट रूप से सक्रिय है, निकृष्टतम दशा में जो सोई हुई हैं उन्हें अस्वीकार करें या उनकी अपेक्षा कर दें और अति भौतिक व्यापारों के बारे में अन्वेषण करने से तब तक इंकार करें जब तक उनका भौतिक पदार्थ तथा उसकी गतिविधि के साथ सबंध न हों और उसे भौतिक शक्ति की एक अधीनस्थ क्रिया के रूप में न स्वीकार किया जाये जैसे ही मन और अतिमानस की क्रियाओं का अन्वेषण, शुरू से ही उन्हें जड़ की किसी निचली गति के रूप में देखने के पूर्वाग्रह के बिना, उनके अपने स्वरूप में देखने के लिए करेगें। वैसे ही हम ऐसे व्यापार–समूह के संपर्क में आयेगें जो जड़ अज्ञेयवाद जो सारी अभिव्यक्ति के पीछे एक अज्ञेय को मानते हुए अज्ञेय के क्षेत्र को बढ़ाता जाता है और अंत में जो कुछ भी अज्ञात है। वह सब उसमें समा जाता है, उसका आधारवाक्य यह होता है कि शारीरिक इंद्रियां ही 'ज्ञान' के लिये हमारा एकमात्र साधन है और तर्कबुद्धि अपनी अधिक से अधिक विस्तृत और अधिक से अधिक सशक्त उड़ानों में भी इन्द्रियों के प्रवेश से बाहर नहीं जा सकती। उसे हमेशा उन्हीं तथ्यों से व्यवहार करना

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 2, Issue 1, May 2023 Impact Factor: 7.301

चाहिये जिन्हें इन्द्रियां उसके सामने प्रस्तुत करें या जिनकी ओर इशारों को भी हमेशा अपने मूल के साथ बंधा रहना पड़ेगा। हम उनके परे नहीं जा सकते। हम इनसे ऐसा पुल नहीं बना सकते जिससे किसी ऐसे क्षेत्र में पहुंचा जा सके जहां अधिक सशक्त और कम सीमित क्षमताओं की क्रियायें होती हैं और किसी और तरह के अन्वेषण की जरूरत हो।[12]

अरविन्द कहता है कि हम पूर्व मानव जाति जिस संक्षिप्त सी तर्क–बुद्धिपरक अवधि में से गुजर रही है, उसकी अतिशय और अनिवार्य उपयोगिता को जान लें। क्योंकि प्रमाण और अनुभव का जो विशाल क्षेत्र फिर से अपने द्वार हमारे आगे खोलना शुरू कर रहा है उसमें सुरक्षा के साथ तभी प्रवेश किया जा सकता है जब बुद्धि को कड़ाई के साथ शुद्ध तापस कठोरता के लिये प्रशिक्षित किया जाये। यदि अपक्व मन उसे पकड़ ले तो बहुत संकटप्रद विकृतियों और भ्रांतिकारी कल्पनाओं की संभावना रहती है। वास्तव में भूतकाल में सत्य के एक सच्चे केन्द्र पर विकृतिकारी अंधविश्वासों और तर्क विरोधी मतों की ऐसी पपड़ी जम गई कि सच्चे ज्ञान की और समस्त प्रगति असंभव हो गई। कुछ समय के लिये यह जरूरी हो गया कि सत्य और उसके छद्मवेशों को एक साथ बाहर फेंका जाये ताकि एक नये प्रमाण और निश्चित प्रगति के लिये रास्ता साफ हो जाये जड़वाद की तर्कणापरक वृत्ति ने मानव जाति की यह बड़ी सेवा की है।[13]

क्योंकि जो क्षमताएं इन्द्रियों का अतिक्रमण करती हैं वे भी जड़त्व से फंसी हुई हैं, उन्हें भी भौतिक शरीर में काम करना है ये भी भावुक कामनाओं और स्नायविक आवेशो के साथ एक ही रथ खींचने के लिए जुती हुई। अतः यह एक मिश्रित क्रिया की ओर खुली रहती है जिसमें सत्य को स्पष्ट करने की जगह अस्तव्यस्तता को प्रकाशित करने का भय रहता है। यह मिश्रित क्रियावली तब और भी अधिक संकटमय हो जाती है। जब शोधित मन और अशुद्ध संवेदनों सहित मनुष्य आध्यात्मिक अनुभूति के उच्चतर क्षेत्रों में उठने का प्रयास करता है। मनुष्य अपने उद्धत और असामयिक साहसिक कार्यो के कारण उन निःसार बादलों, अर्द्ध ज्योतिर्मय कुहासे या घने अंधकार के ऐसे प्रदेशों में खो जाता है जहां बिजली की कौंध तो आती है पर प्रकाश देने की जगह अंधा करने के लिए प्रकृति अपनी प्रगति के लिये जो रास्ता चुनती है उसके लिये यह साहस निः संदेह जरूरी है क्योंकि वह काम के साथ–साथ अपना मनोरंजन भी करती जाती है, फिर भी, तर्कबुद्धि के लिये यह उद्धत और असामयिक है।

इसलिए यह आवश्यक है कि आगे बढ़ता हुआ ज्ञान अपने आपको स्पष्ट, शुद्ध और नियंत्रित बुद्धि पर प्रतिष्ठित करें। यह भी जरूरी है कि कभी–कभी वह इन्द्रियग्राह्य तथ्य के संयम और भौतिक जगत की ठोस वास्तविकताओं में लौटकर अपनी भूल–भ्रांतियो को ठीक कर लें। पृथ्वी पुत्र के लिये पृथ्वी का स्पर्श हमेशा शक्तिवर्धक होता है, तब भी जब वह अतिभौतिक ज्ञान की खोज में हो। यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि हम अतिभौतिक के शिखरों तक तो हमेशा पहुंच सकते हैं परन्तु उसकी पूर्णता पर तभी अधिकार पाया जा सकता है। जब हम अपने पैर दृढ़ता से भौतिक पर जमाये रखें। जब कभी उपनिषद् विश्व में प्रकट होने वाली 'आत्मा' का चित्रण करता है, तब तक कहता है, 'पदभ्यांपृथ्वी' पृथ्वी पाजस्यम्' पृथ्वी उसकी पादभूमि है और यह निश्चित है कि हम अपने भौतिक जगत के ज्ञान को जितना अधिक विस्तृत और जितना अधिक निश्चित बनायेगें, उच्चतर ज्ञान बल्कि उच्चतम ज्ञान और ब्रह्म विद्या के लिये भी हमारा आधार उतना ही विस्तृत और निश्चित होगा।[14] इसलिए मानव ज्ञान के जड़वादी काल से निकलते हुए हमें इस बारे में सावधान रहना चाहिये कि जिस चीज को छोड़ रहे हैं। उसकी उद्धतता के साथ निंदा न करें या उससे प्राप्त लाभों का लेशमात्र भी जब तक न फेकें जब तक हम उनके स्थान का लेशमात्र भी जब तक न फेकें। जब तक हम उनके स्थान को भरने के लिये ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवों और शक्तियों को न ला सकें जो पूरी तरह हमारी पकड़ में और सुरक्षित हों। बल्कि भगवान के लिए नास्तिकवाद ने जो कार्य किया है उसे हम आश्चर्य और मान के साथ देखेगें और ज्ञान की असीम वृद्धि की तैयारी के लिये अज्ञेयवाद ने जो सेवा दी है उसके लिये हम उसकी सराहना करेगें।

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 2, Issue 1, May 2023 Impact Factor: 7.301

हमारे जगत में भूल–भ्रांति हमेशा सत्य की परिचारिका और पथ खोजने वाली रही है क्योंकि सचमुच भूल अर्द्ध सत्य हैं जो अपनी सीमाओं के कारण लड़खड़ाती है। बहुधा वह सत्य ही होता है जो छल के वेश में आता है ताकि अपने गंतव्य स्थान के निकट अलक्षित रूप में पहुंच जाये। हम जिस महान काल को छोड़ रहे हैं, उसमें भूल का जो एक विश्वासपात्र सेविका का रूप रहा है, कठोर, ईमानदार, व्यवहार, शुद्ध, अपनी सीमाओं में संयत प्रकाशमान, एक अर्द्धसत्य रूप रहा है। अगर वही बना रहे, वह विवेकहीन धृष्ट और पथ–भ्रष्ट न हो जाये तो अच्छा है।[15]

एक प्रकार का अज्ञेयवाद ही समस्त ज्ञान का अंतिम सत्य है। हम चाहे जिस मार्ग के अंत तक पहुंचे, वहां विश्व एक अज्ञेय सदवस्तु का प्रतीक और आभास पहुंचे, वहां विश्व एक अज्ञेय सदवस्तु का प्रतीक और आभास मालूम होता है जो अपने आपको मूल्यों की विभिन्न प्रणालियों में, भौतिक मूल्यों, प्राणिक तथा संवेदनशील मूल्यों, बौद्धिक, आदर्श तथा आध्यात्मिक मूल्यों में अनूदित करता है। 'तत्' हमारे लिये जितना अधिक वास्तविक बनता है उतना ही विचार की परिभाषा और शब्दों की अभिव्यंजना से दूर होता जाता है।

''न तत्र वाग्गच्छति नो मनः'' वहां न वाणी की पहुंच है न मन की। फिर भी जैसे मायावादियों के साथ मिलकर प्रत्यक्ष रूप या प्रतीयमान जगत की अवास्तविकता के बारे में अतिश्योक्ति करना संभव है इसी तरह अज्ञेय का अज्ञेयता के बारे में भी अतिश्योक्ति करना संभव है। जब हम कहते हैं कि वह अज्ञेय है तो सचमुच हमारा मतलब यह होता है कि वह हमारे विचार और हमारी वाणी की पकड़ से बच निकलता है। ये ऐसे यंत्र है जो हमेशा भिन्नता के बोध से आगे बढ़ते और परिभाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। लेकिन अगर वह विचार के लिये ज्ञेय नहीं है तो उसे चेतना के परम प्रयास से पाया जा सकता है। बल्कि एक प्रकार का ऐसा ज्ञान भी होता है जो तादात्म्य के साथ एकरूप होता है और एक अर्थ मैं 'उसे' उसके द्वारा जाना जा सकता है। निश्चय ही उस ज्ञान को सफलता के साथ विचार और वाणी में नहीं दोहराया जा सकता है। निश्चय ही उस ज्ञान को सफलता के साथ विचार और वाणी में नहीं दोहराया जा सकता। अगर हम उसे प्राप्त कर लें तो परिणाम होता है 'उस' का हमारी वैश्य चेतना के प्रतीकों में पुनर्मूल्यन और यह केवल एक नहीं प्रतीकों की सभी श्रेणियों में होता है और इसके परिणामस्वरूप हमारी आंतरिक सत्ता में और आंतरिक के द्वारा बाह्म जीवन में क्रान्ति आ जाती है और इसके अतिरिक्त एक प्रकार का ऐसा ज्ञान भी है, जिसके द्वारा तत् अपने–आपको तथ्यात्मक जीवन के उन सब नाम रूपों में प्रकट करना है जो साधारण बुद्धि से 'उसे' छिपाते ही हैं।

हम भौतिक सूत्रों की सीमाओं को पार करके और प्राण, मन और अतिमानस की उन तथ्यों में जांच करके जो उनके स्वभावानुरूप हैं और न केवल उन अधीनस्थ गतिविधियों में जांच करके जिनके द्वारा वे अपने–आपको जड़त्व के साथ जोड़ते हैं।

हम उच्चतम तो नहीं उच्चतर ज्ञान की पद्धति को पा सकते हैं।[16]

अज्ञात–अज्ञेय नहीं, ''अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'', अगर हम अज्ञान का ही वरण न करें या अपनी पहली सीमाओं के लिये आग्रह न करें, तो यह जरूरी नहीं है कि यह हमारे लिये अज्ञात ही बना रहे। क्योंकि उन सब चीजो के लिये जो अज्ञेय नहीं है, विश्व की सभी चीजों के साथ मेल खाती हुई विश्व में ऐसी क्षमताएं हैं जो उनका ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं और मनुष्य में जो अणु ब्रह्माण्ड हैं। ये क्षमताएं हमेशा विद्यमान रहती हैं और एक विशेष स्थिति में विकसित हो सकती हैं। हो सकता है कि हम उन्हें विकसित न करना चाहें और जहां वे अंशतः विकसित है वहां हम उन्हें हतोत्साह करके क्षीण कर दें। परंतु मूलतः मनुष्य की सामर्थ्य के भीतर सभी संभव ज्ञान ज्ञेय है और क्योंकि मनुष्य में प्रकृति की आत्मसिद्धि के लिये अविच्छेद्य प्रेरणा विद्यमान है। इसलिये हमारी क्षमताओं की क्रिया को एक सीमित क्षेत्र में बंद रखने के लिए बुद्धि का कोई भी संघर्ष हमेशा के लिये सफल नहीं हो सकता।

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 2, Issue 1, May 2023 Impact Factor: 7.301

यदि आधुनिक जड़वाद केवल भौतिक स्थूल जीवन की नासमझी के साथ चुपचाप स्वीकृति होता तो प्रगति में अनिश्चित काल की देर लगती। लेकिन चूंकि ज्ञान की खोज ही उसका मर्म हैं। इसलिये वह रूक न सकेगा। जब वह इन्द्रिय ज्ञान की सीमा और इन्द्रिय ज्ञान पर आश्रित तर्क तक पहुंचेगा तब स्वयं उसकी गति का वेग उसे आगे ले जायेगा। उसने जिस तेजी और निश्चित के साथ दृश्य जगत को अपनी बाहों में भरा है वह उसकी शक्ति और सफलता का सूचक है। जब उसने सीमा को लांघने वाला डग भर लिया है तो हम आशा कर सकते हैं कि जो कुछ परे है उसकी विजय में भी इसी शक्ति और सफलता की पुनरावृत्ति होगी उस प्रगति का धुंधला सा आरंभ हमें दिखाई देने लगा है।

न केवल अपनी अंतिम धारणा में, बल्कि ज्ञान के सामान्य परिणामों की एक बड़ी श्रृखंला में भी, हम चाहे जिस मार्ग से उसका अनुसरण करें, ज्ञान एक होने की ओर बढ़ रहा है। इससे बढ़कर देखने लायक और संकेतकारी कुछ भी नहीं है कि आधुनिक विज्ञान जड़ के प्रदेश में बड़ी हद तक उन्हीं धारणाओं और भाषा के उन्हीं सूत्रों को पुष्ट करता है जिन्हें एकदम भिन्न विधि से वेदांत ने, तत्वदार्शनिक मतों के वेदांत ने नहीं, मूल वेदांत, उपनिषदों के वेदोंत ने पाया था। और दूसरी ओर वेदांत की ये धारणाएं अपना पूरा अर्थ, अपनी अधिक समृद्धि तभी प्रकट करती हैं। जब उन्हें आधुनिक विज्ञान के द्वारा डाले गये नये प्रकाश में देखा जाये।

उदाहरण के लिये वेदांत का यह कथन जो विश्व की चीजों का वर्णन इस रूप में करता है कि 'बहूनामेकं बीजं बहुधा यःकरोति यानी विश्व उर्जा ने एक ही बीज को नानाविध रूपों में सजाया है। भौतिक विज्ञान की यह प्रवृत्ति विशेष रूप से अर्थपूर्ण है कि वह एक ऐसे अद्वैत की ओर जा रही है कि जो बहुत्व के साथ मेल खाता है, वह उस वैदिक विचार की ओर बढ़ रही है। एक ही सारतत्व है और उसके रूप उसकी संभूतियां बहुत है। अगर जड़तत्व और शक्ति के द्वैतवादी आभास पर बल दिया जाये तो भी वह सचमुच इस अद्वैत के मार्ग में बाधक नहीं होता क्योंकि यह स्पष्ट होगा कि मूलभूत जड़ इन्द्रियों के लिये एक अभावात्मक चीज है। सांख्यों के 'प्रधान' की तरह वह द्रव्य का एक भाव रूप ही है और वस्तुतः हम अधिकाधिक उस बिंदु तक पहुंच रहे हैं। जहां विचार का एक मनमाना भेद ही द्रव्य के रूप को ऊर्जा के रूप में अलग करता है।[17]

lo0;kid lnoLr| %& अरविन्द तैत्तिरीय उपनिषद का मंत्र देते हुए कहते है कि –

असनेव स भवति असद् ब्रह्मोति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेदवेद सन्तमेनं ततो विदुः।।

यदि कोई उसे असद् ब्रह्म के रूप में जानता हैं तो वह केवल असत् बन जाता है। यदि कोई जानता है कि ब्रह्म है तो वह जीवन में सत् के रूप में जाना जाता है।

क्योंकि हम दोनों के दावों को स्वीकार करते हैं, शुद्ध आत्मा के दावे को कि वह हमारे अंदर अपनी पूर्ण स्वाधीनता के साथ अभिव्यक्त हो और वैश्व 'जड़त्व' के दावे को भी वह हमारी अभिव्यक्ति का ढांचा और निमित्त बने, हमें एक ऐसे सत्य की खोज करनी होगी। जो इन विरोधियों में पूरी तरह मेल बैठा सकें और दोनों को जीवन में अपना उचित भाग और विचार में अपना प्राप्य औचित्य दे सकें और दोनों में से किसी को अपने अधिकार से वंचित न करें, दोनों में से किसी के परम सत्य को अस्वीकार न करें। इस सत्य से ही उसकी भूलें, यहां तक कि उसकी अतिश्योक्तियों की एकांतिकता भी सतत् बल पाती हैं। क्योंकि जहां कहीं कोई ऐसा चरम कथन होता है जो मानव मन को बहुत जोर से आकर्षित करता है तो हम निश्चित रूप से यह मान सकते हैं कि हम किसी निरी भ्रांति, अंधविश्वास या निर्मूल भ्रम के आगे नहीं खड़े हैं कि बल्कि हमारे आगे कोई परम सत्य छद्मवेश में खड़ा है और हमारी निष्ठा की मांग करता है और अगर हम उससे इंकार कर दें या उसका बहिष्कार कर दें तो वह अपना बदला लेगा। यहीं संतोषजनक समाधान की कठिनाई है और यही समाधान की निश्चयात्मकता में कभी का कारण है।

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 2, Issue 1, May 2023 Impact Factor: 7.301

निश्चयात्मकता की यह कमी आत्मा और जड़तत्व के बीच सभी कामचलाऊ समझौतों में पाई जाती है। समझौता एक व्यापार है, दो संघर्षरत शक्तियों में हितों का एक सौदा होता है।

यह सच्चा मेल–मिलाप नहीं होता। सच्चा मेल–मिलाप हमेशा परस्पर समझ में आता है जो किसी प्रकार का घनिष्ठ ऐक्य लाता है। अतः आत्मा और जड़ तत्त्व के यथासंभव अधिक से अधिक ऐक्य द्वारा ही हम उनके उस सत्य तक पहुंच पायेगें जो उनका मेल–मिलाप कराता है और इसी तरह व्यक्ति के आंतरिक जीवन और बाह्य सत्ता में सांमजस्यपूर्ण व्यवहार के लिये सबलतम आधार पर पहुंचेगें।[18]

InHk xaFk Iph&

1. श्री अरविन्द अपने विषय में पृ0 सं0 1
2. वहीं, पृ0 सं0 1
3. वहीं, पृ0 सं0 1
4. श्री अरविन्द अपने विषय में पृ0 सं0 1
5. पृ0 सं0 2
6. पृ0 सं0 2
7. वहीं, पृ0 सं0 3
8. वहीं, पृ0 सं0 3
9. श्री अरविन्द अपने विषय में पृ0 सं0 1
10. वहीं, पृ0 सं0 4
11. वहीं, पृ0 सं0 4
1. वहीं, पृ0 सं0 5
2. वहीं, पृ0 सं0 5
3. श्री अरविन्द अपने विषय में पृ0 सं0 1
4. वहीं, पृ0 सं0 6
5. वहीं, पृ0 सं0 7
6. वहीं, पृ0 सं0 8
7. वहीं, पृ0 सं0 13